

जैनाचार्यों ने धर्म, दर्शन, इतिहास एवं काव्यों पर ही नहीं, किन्तु ज्योतिष एवं आयुर्वेद जैसे सार्वजनिक विषयों पर भी अनुपम ज्ञान पूर्ण लेखनी चलाई है और काफी जनोपयोगी साहित्य का निर्माण किया है। पढ़िए आयुर्वेद में जैन साहित्य की देन।

□ कविराज राजेन्द्रप्रकाश भटनागर
[एम० ए०, भिषगाचार्य (स्वर्ण पदक प्राप्त)
आयुर्वेदाचार्य, एच० पी० ए० (जाम०),
साहित्यरत्न, प्राध्यापक, राजकीय आयुर्वेद
महाविद्यालय, उदयपुर (राज०)]

जैन आयुर्वेद साहित्य : एक समीक्षा

भारतीय संस्कृति में चिकित्सा का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित माना जाता रहा है। सुप्रसिद्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थ चरक संहिता में लिखा है—“न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते” (च०चि० १।४।६१) जीवनदान से बढ़कर अन्य कोई दान नहीं है। चिकित्सा (स्वास्थ्य के संरक्षण और रोगमुक्ति के उपाय) से कहीं धर्म, कहीं अर्थ (धन), कहीं मैत्री, कहीं यश और कहीं कार्य का अभ्यास ही प्राप्त होता है; अतः चिकित्सा कभी निष्फल नहीं होती—

क्वचिद्धर्मः क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्यशः ।

कर्माभ्यासः क्वचिच्छापि चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥

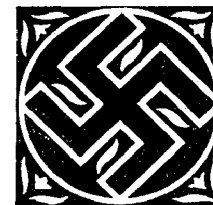
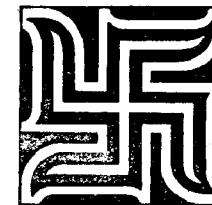
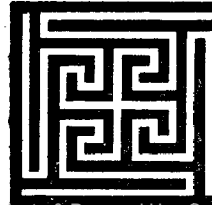
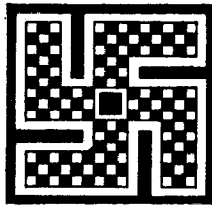
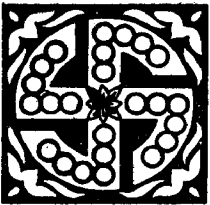
अतएव, प्रत्येक धर्म के आचार्यों और उपदेशकों ने चिकित्सा कार्य द्वारा लोक-प्रभाव स्थापित करना उपयुक्त समझा। बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध को ‘मैषज्यगुरु’ का विशेषण प्राप्त था। इसी भाँति, जैन आचार्यों ने भी चिकित्सा कार्य को धार्मिक शिक्षा और नित्य-नैमित्तिक कार्यों के साथ प्रधानता प्रदान की। धर्म के साधनभूत शरीर को स्वस्थ रखना और रोगी होने पर रोगमुक्त करना आवश्यक है। अद्यावधि प्रचलित ‘उपाश्रय’ (उपासरा) प्रणाली में जहाँ जैन यति सामान्य विद्याओं की शिक्षा, धर्माचरण का उपदेश और परम्पराओं का मार्गदर्शन करते रहे हैं, वहीं वे उपाश्रयों को चिकित्सा-केन्द्रों के रूप में समाज में, प्रतिस्थापित करने में भी सफल हुए थे।

इस प्रकार सामान्यतया वैद्यक-विद्या को सीखना और निःशुल्क समाज की सेवा करना जैन यति के दैनिक जीवन का अंग बन गया, जिसका उन्होंने सफलता-पूर्वक निर्वाह, ऐलोपैथिक चिकित्सा-प्रणाली के प्रचार-प्रसार पर्यन्त यथावत् किया ही है। परन्तु, नवीन चिकित्सा प्रणाली के प्रसार से उनके इस लोक-हितकर कार्य का प्रायः लोप होता जा रहा है।

जैन-आयुर्वेद “प्राणावाय”

जैन आयुर्वेद को ‘प्राणावाय’ कहा जाता है। जैन तीर्थंकरों की वाणी अर्थात् उपदेश को विषयों के अनुसार मोटे तौर पर बारह भागों में विभाजित किया गया है। जैन आगम में इनको ‘द्वादशांग’ कहते हैं। इन बारह अंगों में अन्तिम अंग का नाम ‘दृष्टिवाद’ है। दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं—१ पूर्वगत, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ परिकर्म, ५ चूलिका। ‘पूर्व’ के १४ प्रकार हैं। इनमें से बारहवें ‘पूर्व’ का नाम ‘प्राणावाय’ है। इस पूर्व में मनुष्य के आभ्यन्तर—मानसिक और आध्यात्मिक तथा बाह्य—शारीरिक स्वास्थ्य के उपायों, जैसे—यम, नियम, आहार, विहार और औषधियों का विवेचन है तथा दैविक, भौतिक, आधिभौतिक, जनपदध्वंसी रोगों की चिकित्सा का विस्तार से विचार किया गया है।

“काय-चिकित्सा आदि आठ अंगों में संपूर्ण आयुर्वेद का प्रतिपादन, भूतशांति के उपाय, विषचिकित्सा और



प्राण-अपान आदि वायुओं के शरीर धारण करने की दृष्टि से कार्य के विभाजन का, जिसमें वर्णन किया गया है, उसे 'प्राणावाय' कहते हैं।^१

इसी 'प्राणावाय' के आधार पर जैन विद्वानों ने आयुर्वेदीय ग्रन्थों की रचना में महाद् योगदान किया। ये ग्रंथ अनेक हैं और राजस्थान, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्णाटक के ग्रंथागारों में भरे पड़े हैं। दुर्भाग्य है कि इनमें से कुछ ही प्रकाशित हुए हैं।

निश्चय ही, बाह्य हेतु—शरीर को सबल और उपयोगी बनाकर आभ्यन्तर—आत्मसाधना व संयम के लिए जैन विद्वानों ने आयुर्वेद को अपनाकर अकाल जरा—मृत्यु के निवारण हेतु दीर्घ व सशक्त जीवन हेतु प्रयत्न किया है, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए शरीर का स्वस्थ रहना अनिवार्य है—'धर्मार्थकाम-मोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।'।

जैनागम के 'मूलवार्तिक' में आयुर्वेद—प्रणयन के सम्बन्ध में कहा गया है—'आयुर्वेद प्रणयनान्यथानुपपत्तेः।' अर्थात् अकाल, जरा (वार्धक्य) और मृत्यु को उचित उपायों द्वारा रोकने के लिए आयुर्वेद का प्रणयन किया गया है।

दिगम्बराचार्य उग्रादित्य के 'कल्याणकारक' की प्रस्तावना में आयुर्वेद—अवतरण की इसी मूल बात का प्रकाशन हुआ है।

यही कारण रहा कि जैन आचार्यों और यतिमुनियों द्वारा वैद्यक-ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा है। यह निश्चित है कि जैन विद्वानों द्वारा वैद्यक-कार्य अंगीकार किये जाने पर चिकित्सा में निम्न दो प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित हुए—

(१) अहिंसावादी जैनों ने शवच्छेदन-प्रणाली और शल्यचिकित्सा को हिंसक कार्य मानकर चिकित्सा कार्य से उन्हें अप्रचलित कर दिया। परिणामस्वरूप हमारा शरीर सम्बन्धी ज्ञान शनैःशनैः क्षीण होता गया और शल्यचिकित्सा छूटती गयी। उनका यह निषेध भारतीय शल्यचिकित्सा की अवनति का एक कारण बना।

(२) जहाँ एक ओर जैन-विद्वानों ने शल्यचिकित्सा का निषेध किया, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने रसयोगों और सिद्ध-योगों का बाहुल्येन उपयोग प्रारम्भ किया। एक समय ऐसा आया, जब सब रोगों की चिकित्सा सिद्ध-योगों द्वारा ही की जाने लगी। जैसाकि आजकल ऐलोपैथिक चिकित्सा में सब रोगों के लिए पेटेन्ट योग प्रयुक्त किये जा रहे हैं! नवीन सिद्धयोग और रसयोग (पारद और धातुओं से निर्मित योग) भी प्रचलित हुए।

(३) भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर रोग निदान के लिए नाड़ी परीक्षा, मूत्र परीक्षा आदि को भी जैन वैद्यों ने प्रश्रय दिया। यह उनके द्वारा इन विषयों पर निर्मित अनेक ग्रन्थों से ज्ञात होता है।

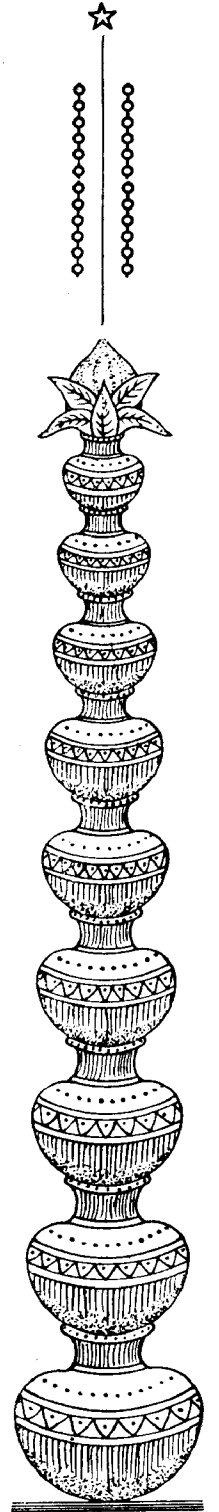
(४) औषधि चिकित्सा में मांस और मांस—रस के योग जैन वैद्यों द्वारा निषिद्ध कर दिये गये। मद्य (सुराओं) का प्रयोग भी वर्जित हो गया। 'कल्याणकारक' में तो मांस के निषेध की युक्ति-युक्त विवेचना की गई है।

(५) इस प्रकार केवल वानस्पतिक और खनिज द्रव्यों से निर्मित योगों का जैन वैद्यों द्वारा चिकित्सा कार्य में विशेष प्रचलन किया गया। यह आज भी सामान्य चिकित्सा-जगत् में परिलक्षित होता है।

(६) सिद्ध-योग-चिकित्सा प्रचलित होने से जैन वैद्यक में त्रिदोषवाद और पंचभूतवाद के गम्भीर तत्त्वों को समझने और उनका रोगों से व चिकित्सा से सम्बन्ध स्थापित करने की महान् व गूढ़ आयुर्वेद प्रणाली का ह्रास होता गया और केवल लाक्षणिक चिकित्सा ही अधिक विकसित हुई।

जैनाचार्यों ने स्वानुभूत एवं प्रायोगिक प्रत्यक्षीकृत प्रयोगों व साधनों द्वारा रोग-मुक्ति के उपाय बताये हैं। शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के लिए परीक्षणोपरांत सफल सिद्ध हुए प्रयोगों और उपायों को उन्होंने लिपिबद्ध कर दिया। जैन-धर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों ही सम्प्रदायों के आचार्यों ने इस कार्य में महान् योगदान किया है।

(७) जैन वैद्यक-ग्रन्थ अधिक संख्या में प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध हैं। फिर भी संस्कृत में रचित जैन वैद्यक ग्रन्थों की संख्या न्यून नहीं है। अनेक जैन वैद्यों के चिकित्सा और योगों सम्बन्धी गुटके (परम्परागत नुस्खों के



संग्रह, जिन्हें “आम्नाय” ग्रन्थ कहते हैं) भी मिलते हैं। इनका अनुभूत प्रयोगावली के रूप में अवश्य ही बहुत महत्त्व है।

(८) जैनाचार्यों ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर ही मुख्यरूप से चिकित्सा-शास्त्र का प्रतिपादन किया है। जैसे अहिंसा के आदर्शानुरूप उन्होंने मद्य, मांस और मधु के प्रयोग का सर्वथा निर्देश नहीं किया है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। इस अहिंसा का आपत्काल में भी विचार रखा है। इसका यही एकमात्र उद्देश्य था कि मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य पारमाथिक स्वास्थ्य प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करना है।

(९) चिकित्सा में उन्होंने वनस्पति, खनिज, क्षार, रत्न, उपरत्न, आदि का विशेष उपयोग बताया है।

(१०) शरीर को स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और नीरोग रखकर केवल ऐहिक भोग (इन्द्रिय सुख) भोगना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है, अपितु शारीरिक स्वास्थ्य के मध्यम से आत्मिक स्वास्थ्य व सुख प्राप्त करना ही जैनाचार्यों का प्रधान उद्देश्य था। इसके लिए उन्होंने भक्ष्याभक्ष्य, सेव्यासेव्य आदि पदार्थों का उपदेश दिया है। जैन वैद्यक-ग्रन्थों के अपने सर्वेक्षण से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ उसके निम्न तीन पहलू हैं—

एक—जैन विद्वानों द्वारा निर्मित वैद्यक साहित्य अधिकांश में मध्ययुग में (ई० सन् की ७ वीं शती के १९वीं शती तक) निर्मित हुआ है।

द्वितीय—उपलब्ध सम्पूर्ण वैद्यक-साहित्य से तुलना करें तो जैनों द्वारा निर्मित साहित्य उसके एक तृतीयांश से भी अधिक है।

तृतीय—अधिकांश जैन वैद्यक ग्रन्थों का प्रणयन पश्चिमी भारत में यथा—पंजाब, राजस्थान, गुजरात—कच्छ सौराष्ट्र और कर्णाटक में हुआ है। कुछ माने में राजस्थान को इस सन्दर्भ में अग्रणी होने का गौरव और श्रेय प्राप्त है। राजस्थान में निर्मित अनेक जैन वैद्यक ग्रन्थों, जैसे वैद्यवल्लभ (हस्तिरुचिकृत), योगचिन्तामणि (हर्षकीर्तिसूरिकृत) आदि का वैद्य जगत् में बाहुल्येन प्रचार-प्रसार उपलब्ध होता है। जैन विद्वानों द्वारा मुख्यतया निम्न तीन प्रकार से वैद्यक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ—

(१) जैन यति—मुनियों द्वारा ऐच्छिक रूप से ग्रन्थ-प्रणयन।

(२) जैन यति-मुनियों द्वारा किसी राजा अथवा समाज के प्रतिष्ठित व धनी श्रेष्ठी पुरुषों की प्रेरणा या आज्ञा से ग्रन्थ-प्रणयन।

(३) स्वतन्त्र जैन विद्वानों और वैद्यों द्वारा ग्रन्थ-प्रणयन।

जैन आयुर्वेद-साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन

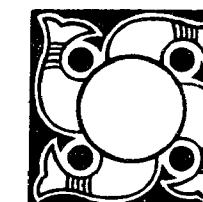
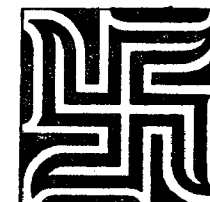
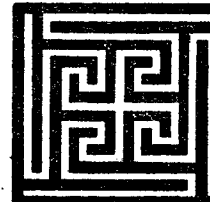
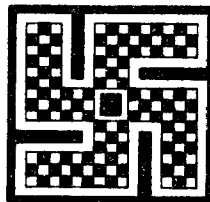
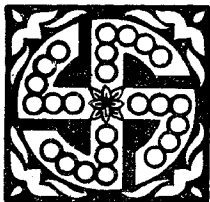
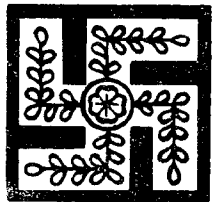
जैन-विद्वानों द्वारा प्रणीत आयुर्वेद साहित्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—

प्रथम—जैन-धर्म के आगम-ग्रन्थों और उनकी टीकाओं आदि में आये हुए आयुर्वेद-विषयक सन्दर्भों का अध्ययन।

द्वितीय—जैन विद्वानों द्वारा प्रणीत ‘प्राणावाय’—सम्बन्धी ग्रन्थ और आयुर्वेद-सम्बन्धी स्वतन्त्र ग्रन्थ-टीकाएँ और योगसंग्रह आदि।

जैन आगम-साहित्य में उपलब्ध आयुर्वेद-परक उल्लेख

उपलब्ध प्राचीनतम जैन-धर्म-साहित्य ‘द्वादशांग आगम’ या ‘जैन श्रुतांग’ कहलाता है। जैन-धर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर के उपदेशों को सुनकर उनके ही शिष्य गौतम ने विषयानुसार १२ विभागों में बाँटकर निर्मित किया था। इस साहित्य के पुनः दो विभाग हैं—(१) अंगप्रविष्ट, और (२) अंगबाह्य। ‘अंग-प्रविष्ट’ के अन्तर्गत आचारांग आदि बारह ग्रन्थ हैं। वीरनिर्वाणोपरान्त १०वीं शताब्दी में ग्यारह अंगों का पुनः श्रुत-परम्परा द्वारा संकलन किया गया। ‘अंगबाह्य’ के १४ भेद माने गये हैं। इनमें ‘दशवैकालिक’ और ‘उत्तराध्ययन’ नामक ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। श्वेताम्बर आगम-साहित्य में इन दोनों ग्रन्थों को विशेष उच्चस्थान प्राप्त है।^{१२}



कालक्रमानुसार जैन आगम-साहित्य अर्धमागधी, शौरसेनी, प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत भाषाओं में मिलता है।

आगम—ग्रन्थ संक्षेप में और गूढ़ हैं। अतः, बाद के काल में उन पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका नामक रचनाएँ निर्मित हुईं।^{१४} इनकी रचना ई० १ ली शती से १६वीं शती तक होती रही है। इनका प्रयोजन आगमों के विषयों को संक्षेप या विस्तार से समझाना है।^{१५} इन सब रचनाओं का सामूहिक नाम “आगम-साहित्य” है।

आगम-साहित्य में प्रसंगवशात् आयुर्वेद-विषयक अनेक संदर्भ आये हैं। यहाँ उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जायेगा।

‘स्थानांगसूत्र’ में आयुर्वेद या चिकित्सा (तेगिच्छ—चैकित्स्य) को नौ पापश्रुतों में गिना गया है।^{१६} ‘निशीथ-चूर्णि’ से ज्ञात होता है कि धन्वन्तरि इस शास्त्र के मूल-प्रवर्तक थे। उन्होंने अपने निरन्तर ज्ञान से रोगों का ज्ञानकर वैद्यक शास्त्र या आयुर्वेद की रचना की। जिन लोगों ने इस शास्त्र का अध्ययन किया वे ‘महावैद्य’ कहलाये।^{१७} आयुर्वेद के आठ अंगों का भी उल्लेख इन आगम ग्रन्थों में मिलता है—कौमारभृत्य, शालाक्य, शल्यहृत्य, कायचिकित्सा, जांगुल (विषनाशन), भूतविद्या, रसायन और वाजीकरण।^{१८} चिकित्सा के मुख्य चार पाद हैं—वैद्य, रोगी, औषधि और प्रतिचर्या (परिचर्या) करने वाला (परिचारक)।^{१९} सामान्यतया विद्या और मंत्रों कल्पचिकित्सा और वनौषधियों (जड़ी-बूटियों) से चिकित्सा की जाती थी और इसके आचार्य यत्र-तत्र मिल जाते थे।^{२०} चिकित्सा की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं। इनमें पंचकर्म, वमन, विवेचन आदि का भी विपुल प्रचलन था।^{२१} रसायनों का सेवन कराकर भी चिकित्सा की जाती थी।^{२२}

चिकित्सक को ‘प्राणाचार्य’ कहा जाता था।^{२३} पशुचिकित्सक भी हुआ करते थे।^{२४} निष्णात वैद्य को ‘दृष्टपाठी’ (प्रत्यक्षकर्माभ्यास द्वारा जिसने वास्तविक अध्ययन किया है) कहा गया है।^{२५}

‘निशीथचूर्णि’ में अनेक शास्त्रों का नामतः उल्लेख मिलता है।^{२६} तत्कालीन अनेक वैद्यों का उल्लेख भी आगम ग्रन्थों में मिलता है। ‘विपाकसूत्र’ में विजय नगर के धन्वन्तरि नामक चिकित्सक का वर्णन है।^{२७}

रोगों की उत्पत्ति वात, पित्त, कफ और सन्निपात से बतायी गयी है।^{२८} रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बताये गये हैं—अत्यन्त भोजन, अहित कर भोजन, अतिनिद्रा, अतिजागरण, पुरीष का निरोध, मूत्र का निरोध, मार्ग-गमन, भोजन की अनियमितता, काम विकार।^{२९} पुरीष के वेग को रोकने से मरण, मूत्र-वेग रोकने से दृष्टिहानि और वमन के वेग को रोकने से कुष्ठरोग की उत्पत्ति होती है।^{३०}

‘आचारांगसूत्र’ में १६ रोगों का उल्लेख है—गंडी (गंडमाला), कुष्ठ, राजयक्ष्मा, अपस्मार, कार्णिय (काण्य, अक्षिरोग), जिमिय (जड़ता), कुणिय (हीनांगता), खुज्जिय (कुबड़ापन) उदर रोग, मूकत्व, सूनीय (शोथ), गिलासणि (भस्मक रोग), बेवई (कम्पन), पीठसंधि (पंगुत्व), सिलीवय (श्लोषद) और मधुमेह।^{३१}

इसी प्रकार आगम साहित्य में व्याधियों की औषधि चिकित्सा और शल्यचिकित्सा का भी वर्णन मिलता है। सर्पकोट आदि के विषों की चिकित्सा भी वर्णित है। सुवर्ण को उत्तम विषनाशक माना गया है। गंडमाला, अर्श, भगंदर, व्रण, आघात या आगन्तुज व्रण आदि के शल्यकर्म और सीवन आदि का वर्णन भी है।

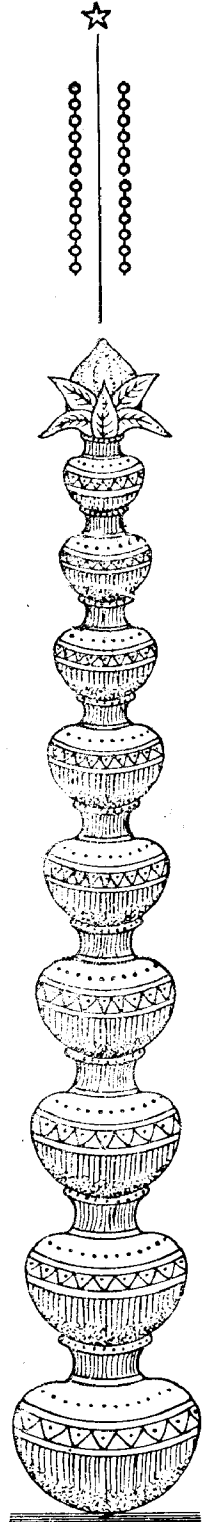
मानसिक रोगों और भूतावेश-जन्य रोगों में भौतिक चिकित्सा का भी उल्लेख मिलता है।

जैन आगम ग्रन्थों में आरोग्यशालाओं (तेगिच्छयशाल—चिकित्साशाला) का उल्लेख मिलता है। वहाँ वेतन भोगी चिकित्सक, परिचारक आदि रखे जाते थे।^{३२}

वास्तव में, सम्पूर्ण जैन आगम साहित्य में उपलब्ध आयुर्वेदीय संदर्भों का संकलन और विश्लेषण किया जाना अपेक्षित है।

‘प्राणावाय’-परम्परा का साहित्य

जैन-आयुर्वेद ‘प्राणावाय’ का ऊपर उल्लेख किया गया है। इसका विपुल साहित्य प्राचीनकाल में अवश्य रहा होगा। अब केवल उग्रादित्याचार्य विरचित “कल्याणकारक” नामक ग्रंथ मिलता है।^{३३} यही एकमात्र प्राणावाय सम्बन्धी उपलब्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्राणावाय के अवतरण की कथा वर्णित है। इस परम्परा के अनुसार



आदि भगवान् ऋषभनाथ से भरत चक्रवर्ती, आदि ने गुरुषु, रोम, औषध और काल—इन चार भागों में आयुर्वेद विषयक समग्र ज्ञान प्राप्त किया। गणधरों से प्रतिगणधरों ने, फिर उनसे श्रुतकेवलियों ने और बाद में अल्पज्ञ मुनियों ने इस ज्ञान को प्राप्त किया। उसी क्रम-प्राप्त ज्ञान के आधार पर कल्याणकारक नामक ग्रन्थ की रचना उग्रादित्य ने की। इस ग्रन्थ में प्राणावायु सम्बन्धी पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का नामोल्लेख हुआ है। उसमें लिखा है—पूज्यपाद ने शालाक्य पर, पात्रस्वामी ने शल्यतन्त्र, सिद्धसेन ने विष और उग्रग्रहशमनविधि का, दशरथ गुरु ने कायचिकित्सा पर मेघनाद ने बालरोगों पर और सिंहनाद ने वाजीकरण और रसायन पर वैद्यक ग्रन्थों की रचना की थी।^{१२४} इसी ग्रंथ में आगे यह भी कहा गया है कि—समन्तभद्र ने विस्तारपूर्वक आयुर्वेद के आठों अंगों पर ग्रंथ रचना की थी (जिस प्रकार वृद्धवाग्भट ने 'अष्टांगसंग्रह' नामक ग्रंथ लिखा था)। समन्तभद्र के अष्टांगविवेचन पूर्ण ग्रंथ के आधार पर ही उग्रादित्य ने संक्षेप में अष्टांगयुक्त "कल्याणकारक" नामक ग्रंथ की रचना की।^{१२५}

'कल्याणकारक' में वर्णित उपर्युक्त सभी प्राणावायु सम्बन्धी ग्रंथ अब अनुपलब्ध हैं।^{१२६} पूज्यपाद के वैद्यक ग्रंथ की प्रति मांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना के संस्कृत हस्तलेख ग्रन्थागार में सुरक्षित है। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि पूज्यपाद के कल्याणकारक का कन्नड में अनुदित ग्रन्थ अब भी मिलता है, जो सोमनाथ का लिखा हुआ है।

संक्षेप में, प्राणावायु की परम्परा अब लुप्त हो चुकी है। इसके ग्रंथ, 'कल्याणकारक' के सिवा, अब नहीं मिलते। 'कल्याणकारक' का रचनाकाल ई० ६वीं शती है।

जैन विद्वानों द्वारा प्रणीत आयुर्वेदीय ग्रन्थ

आयुर्वेद के ग्रंथों पर टीकाएँ, संग्रह ग्रंथ, मौलिक ग्रंथ और योग ग्रंथों की रचना कर जैन विद्वानों ने 'भारतीय' वैद्यकविद्या के इतिहास में अपने को अमर कर दिया है। यहाँ कतिपय ग्रंथों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायेगा। यह अधिकांश साहित्य अभी तक अज्ञात और अप्रकाशित रहा है। जैन विद्वानों ने संस्कृत के अतिरिक्त प्रादेशिक भाषाओं में भी व्याख्या और ग्रंथों का निर्माण किया था।

आशाधरकृत अष्टांग हृदयोद्योतिनी टीका^{२७}

इसके प्रणेता पं० आशाधर थे। यह जैन श्रावक थे और मूलतः 'मांडलगढ़' प्राचीन सम्पादलक्ष राज्य के अंतर्गत, (जिला भीलवाड़ा, राज०) के निवासी होने पर भी मोहम्मद गौरी के अजमेर पर आधिपत्य कर लेने पर मालवा के राजा विध्यवर्मा की राजधानी धारानगरी और बाद में नालछा में जाकर रहने लगे। इन्होंने ई० १२४० के लगभग वाग्भट पर 'उद्योतिनी टीका' लिखी थी। परन्तु यह ग्रन्थ अब अप्राप्य है। इसका उल्लेख आशाधर के अन्य ग्रन्थों की प्रशस्ति में मिलता है—

“आयुर्वेदविदामिष्टं व्यक्तुं वाग्भटसंहिताम् ।

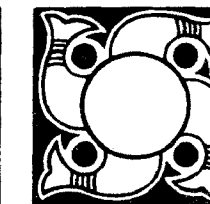
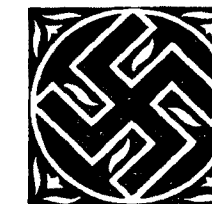
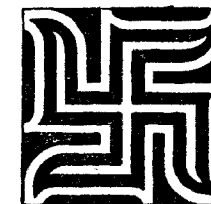
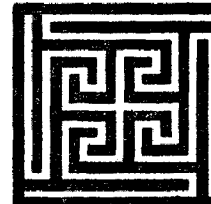
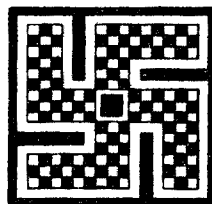
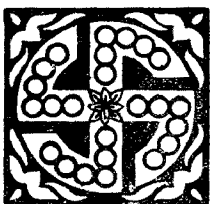
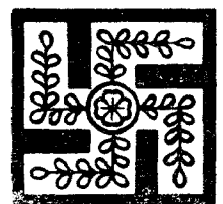
अष्टांगहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः ॥”

गुणाकर सूरि—इन्होंने संवत् १२६६ (ई० १२३६) में नागार्जुनकृत 'योगरत्नमाला' पर 'वृत्ति' लिखी है। यह श्वेतांबर साधु व पण्डित थे। यह टीका संस्कृत में मिलती है।^{१२८}

नयन सुख—यह केशराज के पुत्र और जैन श्रावक थे। यह अकबर के शासनकाल में जीवित थे। इन्होंने गुजराती मिश्रित हिन्दी में पद्यबद्ध 'वैद्यमनोत्सव' नामक ग्रन्थ लिखा था। इसका रचनाकाल सं० १६४६ है। इसमें रोगों का निदान और चिकित्सा दी गई है।

नर्बुदाचार्य—यह तपागच्छीय साधु कनक के शिष्य थे। संभवतः इनका निवास-स्थान गुजरात में कहीं था। इन्होंने सं० १६५६ में 'कोककला चौपाई' नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह कोकशास्त्र (कामशास्त्र) पर गुजराती में पद्यबद्ध रचना है।

हर्षकीर्ति सूरि—यह जैन साधु थे। यह नागपुरीय (नागौरी) तपागच्छीय श्री चन्द्रकीर्ति सूरि के शिष्य थे। इन्होंने संवत् १६३० के आसपास 'योगचिंतामणि वैद्यकसारसंग्रह' या 'योगचिंतामणि' या 'योगसंग्रह' या 'वैद्यकचिकित्सा



संग्रह' नामक चिकित्सा सम्बन्धी योगों का संग्रह ग्रन्थ बनाया था। ज्यूलियस जॉली ने इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० १६६८ या १६६९ माना है।^{२४} इसका रचनाकाल इससे भी पूर्वका होना चाहिए। मैंने रा० प्रा० वि० प्र० जोधपुर में इस ग्रन्थ की सं० १६६६ की ह० लि० प्रति देखी है। इस ग्रन्थ में फिरंग, कबाब चीनी, अहीफेन और पारद का उल्लेख है। इसमें पाक, चूर्ण, गुटिका, क्वाथ, घृत, तैल और मिश्रक सात अध्याय हैं।

लक्ष्मी कुशल—यह तपागच्छीय विमलसोमसूरि के परिवार में जयकुल के शिष्य थे। इन्होंने संवत् १६६४ में ईडर (गुजरात) के समीप ओड़ा नामक ग्राम में 'वैद्यकसार रत्नप्रकाश' नामक आयुर्वेदीय ग्रन्थ की गुजराती चौपाइयों में रचना की थी।

हस्तिरुचि गणि—इनका 'वैद्यवल्लभ' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसका रचनाकाल ई० सन् १६७० है। यह योगसंग्रह व चिकित्सा पर है। गोंडल के इतिहास में हस्तिरुचि के स्थान पर हस्तिसूरि नाम दिया है। मोहनलाल दलीचंद देसाई ने 'जैन साहित्यको इतिहास' (पृ. ६६४) में इनका ग्रन्थ रचनाकाल सं. १७१७ से १७३६ तक माना है। इसमें आठ अध्याय हैं। यह चिकित्सा संबंधी संग्रह ग्रन्थ है। सं. १७२६ में मेघ भद्र ने वैद्यवल्लभ पर संस्कृत में टीका लिखी थी।

पीतांबर—इन्होंने सं. १७५६ में उदयपुर में "आयुर्वेदसार संग्रह" नामक भाषा-ग्रन्थ रचा था।

हंसराज—यह १७वीं शती में विद्यमान थे। इनका 'हंसराज निदान' (अपरनाम 'मिषक्चक्रचित्तोत्सव') नामक निदान विषयक ग्रन्थ है।

जिनसमुद्रसूरि—इनका काल वि.सं. १६७० से १७४१ तक माना जाता है। राजस्थानी भाषा में इनका 'वैद्यचिंतामणि' या 'वैद्यकसारोद्धार' नामक पद्यमय ग्रंथ मिलता है। इसमें रोगों का निदान और चिकित्सा का वर्णन है।

महेन्द्र जैन—यह कृष्णवैद्य के पुत्र थे। इन्होंने वि. सं. १७०६ में पंचन्तरि निघंटु के आधार पर उदयपुर में 'द्रव्यावलीसमुच्चय' ग्रन्थ की रचना की थी। यह द्रव्यशास्त्र संबंधी ग्रंथ है।

नयनशेखर—यह अंचलगच्छीय पालीताणा शाखा के मुनि थे तथा गुजरात के निवासी थे। इन्होंने सं. १७३६ में गुजराती भाषा में 'योगरत्नाकर चौपाई' नामक चिकित्सा ग्रन्थ लिखा था।

विनयमेरुगणी—यह खरतरगच्छीय जिनचंद की परम्परा में सुमतिमेरु के भ्रातृ पाठक थे। इनका काल १८वीं शती प्रमाणित होता है। इनके ग्रन्थ 'विद्वन्मुखमंडनसारसंग्रह' की एक अपूर्ण प्रति (मस्तक रोगाधिकार तक) रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर में विद्यमान है।

रामलाल महोपाध्याय—यह बीकानेर के निवासी तथा धर्मशील के शिष्य थे। इनका 'रामनिदानम्' या 'राम ऋद्धिसार' नामक ग्रन्थ प्राप्त है। इसमें संक्षिप्तरूप से ७१२ श्लोकों में सब रोगों का निदान वर्णित है।

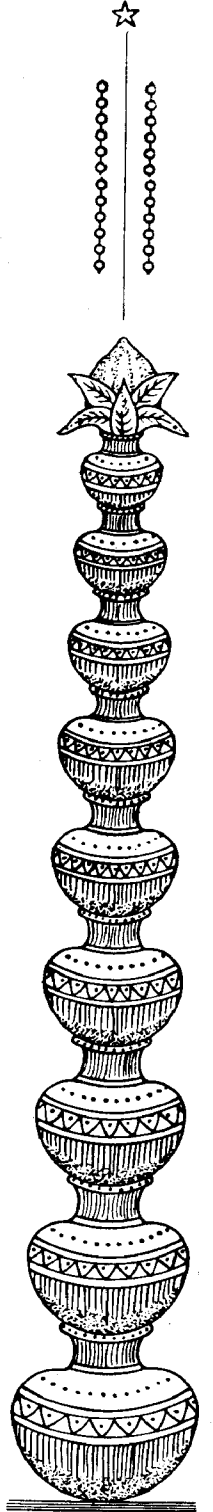
दीपकचन्द्र वाचक—यह खरतरगच्छीय वाचक मुनि थे। इनको जयपुर में महाराजा जयसिंह का राज्याश्रय प्राप्त था। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—संस्कृत में 'पथ्यलंघननिर्णय' (लंघनपथ्यनिर्णय, पथ्यापथ्यनिर्णय, लंघनपथ्यविचार) और राजस्थानी में 'बालतंत्रभाषावचनिका'। प्रथम ग्रन्थ में रोगों के पथ्य और अपथ्य तथा द्वितीय में बालतंत्र की राजस्थानी में टीका है। पथ्यलंघन निर्णय का रचनाकाल सं. १७६२ है।

रामचन्द्र—यह खरतरगच्छीय पद्मरंग के शिष्य थे। इनके राजस्थानी में वैद्यक पर दो ग्रन्थ 'रामविनोद' (वि. सं. १७२०) और 'वैद्यविनोद' (वि. सं. १७२६) तथा ज्योतिष पर 'सामुद्रिकभाषा' नामक ग्रन्थ मिलते हैं।

धर्मसी—इन्होंने सं० १७४० में 'डंभक्रिया' नामक दाहकर्म चिकित्सा पर २१ पद्यों में राजस्थानी में छोटी-सी कृति लिखी थी।

लक्ष्मीवल्लभ—यह खरतरगच्छीय शाखा के उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने संस्कृत के 'काल ज्ञानम्' (शंभुनाथ कृत) का राजस्थानी में पद्यानुवाद किया था। इसका रचनाकाल सं० १७४१ है। लेखक की अन्य कृति 'मूत्रपरीक्षा' नामक राजस्थानी में मिलती है।

मानमुनि (मुनिमान)—यह खरतरगच्छीय भट्टारक जिनचंद के शिष्य वाचक सुमति सुमेरु के शिष्य थे। वैद्यक पर इनकी दो रचनाएँ मिलती हैं—कविनिनोद और कविप्रमोद। 'कविनिनोद' (वि० सं० १७४५) प्रथम खंड में



योग-कल्पनाएँ और द्वितीय में निदान-चिकित्सा का वर्णन है। 'कविप्रमोद' (वि०सं० १७४६) में नौ अध्यायों में संग्रहात्मक चिकित्सा का वर्णन है।

जोगीदास—यह बीकानेर-निवासी थे। इनका अन्य नाम 'दास' कवि प्रसिद्ध है। बीकानेर के तत्कालीन महाराजा जोरावरसिंह की आज्ञा से इन्होंने सं० १७६२ में 'वैद्यकसार' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

समरथ—यह श्वेताम्बर खरतरगच्छीय मतिरत्न के शिष्य थे। इन्होंने शालिनाथ-प्रणीत संस्कृत को 'रसमंजरी' की पद्यमय भाषा टीका सं० १७६४ में की थी। यह रसशास्त्र विषयक ग्रंथ है।

चैन सुखयति—यह फतहपुर (सीकर) के निवासी थे। इनके वैद्यक पर दो ग्रन्थ मिलते हैं—१ बोपदेवकृत 'शतश्लोकी' की राजस्थानी गद्य में भाषा टीका (वि.सं. १८२०) तथा २ लोलिवराजकृत वैद्यजीवन की राजस्थानी में टीका 'वैद्यजीवन टवा'।

मल्लकचन्द—यह बीकानेर के जैन श्रावक थे। इनने यूनानी चिकित्साशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ 'तिब्ब सहाबी' का राजस्थानी भाषा में पद्यानुवाद किया है।

विश्राम—यह आगम गच्छ के यति थे। इनका निवास स्थान अर्जुनपुर (अंजार, कच्छ) था। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—अनुपानमंजरी' (वि. सं. १८४२) तथा व्याधिनिरग्रह' (वि. सं. १८३६) प्रथम ग्रन्थ में विष-उपविष आदि के शोधन, मारण, विषनाशनोपाय और अनुपानों का तथा द्वितीय ग्रंथ में रोगों की संक्षिप्त चिकित्सा का वर्णन है।

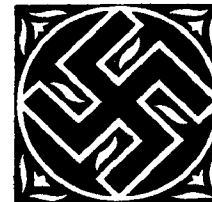
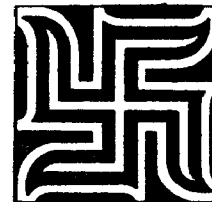
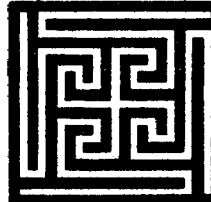
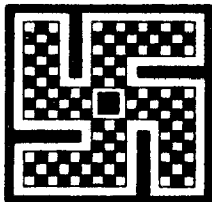
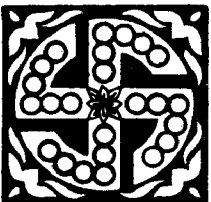
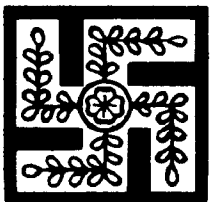
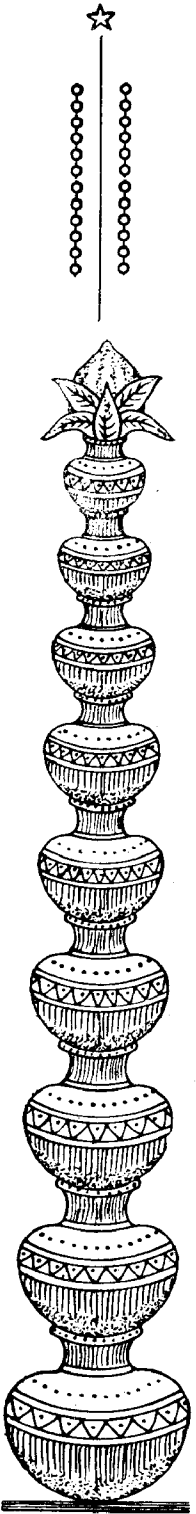
लक्ष्मीचन्द—इनका वि.सं. १९३७ में रचित 'लक्ष्मी प्रकाश' नामक रोगों के निदान और चिकित्सा संबंधी ग्रन्थ मिलता है।

इन जैन ग्रन्थकारों और ग्रन्थों के अतिरिक्त सैकड़ों हस्तलिखित ग्रन्थ जैन ग्रन्थ-भंडारों में अप्रकाशित व अज्ञात रूप में भरे पड़े हैं। पादलिप्ताचार्य और उनके शिष्य नागार्जुन (जो ई. प्रथमशती में हो चुके हैं) का वर्णन भी जैन ग्रन्थों में मिलता है। वे रस विद्या और रसायन चिकित्सा के प्रसिद्ध विद्वान थे। पंजाब में मेघमुनि ने वि.सं. १८१८ में 'मेघविनोद' नाम का चिकित्सा संबंधी ग्रन्थ और गंगाराम यति ने वि.सं. १८७८ में 'गंगयतिनिदान' नामक रोगनिदान संबंधी ग्रन्थों का प्रणयन किया था।

उपर्युक्त परम्पराओं से भिन्न ही जैन विद्वानों की परम्परा दक्षिणी भारत में, विशेषतः कन्नड़ प्रांत में उपलब्ध होती है। कर्नाटक में समंतभद्र (ई. ३-४ थी शती) और पूज्यपाद (ई. ५वीं शती) ने प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों की रचना की थी। वे ग्रन्थ अब नहीं मिलते। उनके संदर्भ उग्रादित्याचार्य के 'कल्याणकारक' में प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं। 'कल्याणकारक' की रचना आचार्य उग्रादित्य ने दक्षिण के राष्ट्रकूट—वंशीय सम्राट नृपतुंग अमोघवर्ष प्रथम (ई. ८१५ से ८७७) के शासनकाल में समाप्त की थी। इस ग्रन्थ के अंत में परिशिष्टाध्याय के रूप में मांसभक्षणनिषेध का गद्य में विस्तृत विवेचन है, जिसे उग्रादित्य ने अनेक विद्वानों और वैद्यों की उपस्थिति में नृपतुंग राजा अमोघवर्ष की राजसभा में प्रस्तुत किया था। अमोघवर्ष की सभा में आने से पूर्व उग्रादित्य और उनके गुरु श्रीनन्दि का निवास पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (ई. ७६४-७६६) के संरक्षण में उनके ही राज्य के अन्तर्गत विजागापट्टम जिले की रामतीर्थ या रामकोंड नामक पहाड़ियों की कंदराओं में था। उस समय यह स्थान वेंगि प्रदेश का उत्तम सांस्कृतिक केन्द्र था। यहीं पर श्रीनन्दि से उग्रादित्य ने 'प्राणावाय' की शिक्षा प्राप्त कर कल्याणकारक ग्रंथ की रचना की थी। बाद में इस प्रदेश को अमोघवर्ष प्रथम द्वारा जीत लिये जाने पर इन्हें भी अमोघवर्ष की राजसभा में आना पड़ा। यहाँ पर उन्होंने कल्याणकारक में नवीन अध्याय जोड़कर ग्रन्थ को संपूर्ण किया। इस प्रकार उग्रादित्य का काल ई. ८वीं शती का अंतिम और ९वीं शती का प्रारंभिक चरण प्रमाणित होता है। कल्याणकारक में मद्य, मांस, आसव, प्राणिज द्रव्य आदि का प्रयोग नहीं बताया गया है। सभी योग, वानस्पतिक और खनिज द्रव्यों से निर्मित हुए हैं। रसयोगों का बाहुल्य इसी ग्रंथ में सर्वप्रथम मिलता है।

उग्रादित्य के बाद भी कर्नाटक में अनेक वैद्यकग्रन्थ निर्मित होते रहे। विजयनगर साम्राज्य के अभ्युदयकाल में सर्वाधिक वैद्यक ग्रन्थ लिखे गये।

प्रारंभिक विजयनगर-काल में राजा हरिहरराज के समय में मंगराज प्रथम नामक कानडी कवि ने वि.सं. १४१६ (१३६० ई.) में 'खगेन्द्रमणिदर्पण' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें स्थावरविषों की क्रिया और उनकी चिकित्सा वर्णन है। श्रीधरदेव (१५०० ई.) ने 'वैद्यामृत' की रचना की थी। इसमें २४ अधिकार हैं।



बाचरस (१५०० ई.) ने अश्ववैद्यक की रचना की। इसमें अश्वों की चिकित्सा का वर्णन है।

पद्मरस ने (१६२७ ई. में) 'हयसारसमुच्चय' (अश्वशास्त्र) नामक ग्रंथ की रचना मैसूर नरेश चामराज के आदेशानुसार की थी। इसमें भी अश्वों की चिकित्सा का वर्णन है।

दक्षिण के ही जैन देवेन्द्र मुनि ने 'बालग्रहचिकित्सा' पर कन्नड़ी में ग्रंथ लिखा था। रामचन्द्र और चंद्रराज ने 'अश्ववैद्य' कीर्तिमान चालुक्य राजा नो 'गौचिकित्सा', वीरभद्र ने पालकाप्य के गजायुर्वेद पर कन्नड़ी भाषा में टीका लिखी थी। ९वीं शती में अमृतनन्दि ने 'वैद्यकनिघण्टु' की रचना की थी। साल्व ने रसरत्नाकर और वैद्यसागत्य तथा जगदेव ने 'महामंत्रवादि' लिखा था।^{२८}

तामिल आदि भाषाओं के जैन वैद्यकग्रन्थों का संकलन नहीं हो पाया है।

प्रस्तुत लेख लेखक के "जैन आयुर्वेद साहित्य" नामक ग्रन्थ की लघुकृति है। ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक जैन विद्वानों द्वारा प्रणीत वैद्यक ग्रन्थों का और उनके ग्रन्थकारों का परिचय विश्लेषणात्मक रूप से उपस्थित किया है।

१ कायचिकित्साष्टांग आयुर्वेदः भूतिकर्मजांगुलिप्रक्रमः।

प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम् ॥

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ० १, सू० २०

२ डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० ५४-५५

३ डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० ७२-७३

४ डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, प्रास्ताविक, पृ० ५

५ स्थानांग सूत्र १।६।७८;

६ निशीथ चूर्णि १५, पृ० ५१२

७ स्थानांग सूत्र ८, पृ० ४०४-अ; विपाक सूत्र ७, पृ० ४१

८ उत्तराध्ययन २०।२३; सुखबोधां पत्र २६६

९ उत्तराध्ययन, २०।२२; सुखबोधां पत्र २६६

१० उत्तराध्ययन, १५।८

११ बृहद्वृत्ति, पत्र ११

१२ बृहद्वृत्ति, पत्र ४७५

१३ वही, पत्र ४६२

१४ निशीथचूर्णि ७।१७५७

१५ निशीथचूर्णि ११।३४३६

१६ विपाकसूत्र ७, पृ० ४१

१७ आवश्यकचूर्णि पृ० ३८५

१८ स्थानांग सूत्र १।६६७

१९ बृहत्कल्प भाष्य ३।४३८०

२० आचारांग सूत्र ६।१।१७३

२१ ज्ञातु धर्मकथा १३, पृ १४३

२२ कल्याणकारक, परिच्छेद १, श्लोक १-११

२३ कल्याणकारक, पृ० २०, श्लोक ८५

२४ कल्याणकारक, पृ० २०, श्लोक ८६

२५ उप्रादित्य का 'कल्याणकारक' शोलापुर (महाराष्ट्र) से सन् १९४० में पं० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया है।

२६ Aufrecht, Catalogus Catalogomn, Part I, p. 36.

२७ मो०द० देसाई, जैन साहित्य नो इतिहास, पृ० ३६७

२८ Julius Jolly, Indian Medicine, p. 4.

